# हिंदी उपन्यासों में चित्रित नयी सदी की समस्याएँ'

**बोनोड पांडुरंग पोषट्टी**
पीएच.डी. (हिंदी)
हिंदी विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, तेलंगाना
मो.नं. 9000957758

नयी सदी के हिंदी उपन्यासों में सामाजिक समस्याएँ केंद्र में हैं । स्वतंत्रता के बाद देश में तीव्र गति से परिवर्तन हुआ । इस परिवर्तन ने वैयक्तिक और समूहगत स्तर पर सामाजिक और आर्थिक समस्याओं ने सर्वाधिक प्रभावित किया है, जिससे इनमें विघटन की स्थितियाँ भी पैदा हो गई हैं । स्वतंत्रता के 75 वर्ष बीत जाने के बावजूद आम आदमी की सामाजिक व आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय है । आज 'अर्थ' जीवन की धुरी बना हुआ है । इस अभाव ने आम लोगों के जीवन को घोर निराशा में डाल दिया है । प्रत्येक युग का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन किसी सीमा तक आर्थिक बोध से प्रभावित रहा है । 'अर्थ' पर ही समाज का विकास निर्धारित होता है, यह एक सर्वमान्य सत्य है परंतु आज के युग में 'अर्थ' को जितना महत्व प्राप्त हुआ है, इससे पहले उतना कभी नहीं रहा। किसी भी व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का निर्णय आज उसकी आर्थिक स्थिति निश्चित होने लगी है । आज अर्थ व्यक्ति व समाज का मेरुदंड बन गया है । आज देश की अर्थ व्यवस्था पर पूँजीवादी शक्ति का शिकंजा कसा है, जिससे आम लोगों में अभावग्रस्तता, महंगाई, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, बेरोजगारी की समस्या बढ़ रही हैं । भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थ एक आवश्यक साधन बन गया है । औद्योगिक, वैज्ञानिक विकास और भौतिक सुख–सुविधाओं के प्रति बढ़ते आकर्षण ने अर्थ प्राप्ति ही व्यक्ति का चरम उद्देश्य बना दिया है । समाज में प्रतिष्ठा और मान–सम्मान की कसौटी मानव मूल्य न होकर भौतिक समृद्धि बन गयी है । इक्कीसवीं सदी के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में सामयिक समस्याओं को विस्तृत रूप से अंकित किया है ।

अलका सरावगी के 'कलि कथा : वाया बाईपास' उपन्यास में मारवाडी किशोर बाबू को केंद्र में रखकर गुजरात से कोलकत्ता तक फैले उत्तर भारतीय समाज की यथार्थ कथा इसमें संवेदनशीलता के चित्रित है । इस उपन्यास में वस्तु अनेक स्तर पर विद्यमान है, जिनमें मारवाड़ी समाज में स्त्रियों की घूटनभरी जीवन का है, जिसके केंद्र में किशोर बाबू की विधवा भाभी है । मारवाडी समाज में विधवा स्त्री को बिना किनारी के सफेद साड़ियाँ पहनने के सिवाय और कुछ पहनने का हक नहीं था। किशोर बाबू की भाभी जब यह सोचकर कि आज तो सब शिक्षित लोग आएंगे। बहुत प्रसन्न मन से वह साड़ी पहनकर शर्माती हुई कमरे से बाहर निकलती है, तभी किशोर बाबू अपनी परंपरागत सोच के कारण यह स्वीकार नहीं कर पाता है । वे समाज की दुहाई देते हुए विधवा स्त्री को उसी दयनीय अवस्था में धकेल देना चाहते हैं– "तुम्हारा दिमाग क्या अब एकदम ही खराब हो गया है भाभी। उम्र बढ़ने के साथ–साथ आदमी की अक्ल बढ़ती है पर मुझे लगता है यू. पी. वालों की अक्ल कम होने लगती है । यह क्या इतने चटक–मटक रंग की साड़ी पहनी है । क्या कहेंगे लोग देखकर। कुछ तो मर्यादा रखी होती समाज में।"[1] पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में एक विधवा स्त्री का अच्छे कपड़े में पहनना मर्यादा खत्म हो जाती है । इस उपन्यास में रूढ़िवादी समाज की कथा ही नहीं है वरन् भारतीय पुरुषसत्तात्मक समाज की विसंगतियों का भी चित्रण है । सच क्या है यह किशोर बाबू जानते हैं । बदलते समय के कारण किशोर बाबू भी अपनी पत्नी में स्वतंत्र

व्यक्तित्व का विकास चाहते है परंतु उनकी सारी चेष्टाओं के बावजूद उनकी पत्नी के व्यक्तित्व का विकास नहीं होता है । इसका कारण वह स्वयं स्वीकार करती है– "इसलिए कि तुमने मेरी नकेल हमेशा अपने हाथों में कसकर पकड़े रखी। कभी अपने आप कोई निर्णय लेने नहीं दिया चाहे कितनी मामूली से मामूली बात क्यों न हो।"[2] किशोर बाबू हमेशा अपनी पत्नी को चाबी की गुड़िया की तरह चलाते रहते है । अपनी पत्नी की काबिलीयत पर कभी भी भरोसा नहीं करता है । मनुष्य की समस्या यही है कि वह किसी बने बनाए सिद्धांत पर पूरा जीवन नहीं चल पाता है । कई बार निजी स्वार्थों के कारण उसके सिद्धांत बदलते रहते हैं । यह मनुष्य की प्रवृत्ति है । शिक्षा, विज्ञान और सामाजिक व्यवस्था के बदलावों से स्त्री की स्थिति में परिवर्तन आया है । आधुनिक शिक्षा प्राप्त स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सजग होने लगी है, जिससे वह प्राचीन रूढ़ियों और परंपराओं से मुक्त हो रही है । आर्थिक उदारीकरण और सूचना प्रसार ने साहित्य को पूर्ण रूप से परिवर्तित किया है । पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव और नवीन सांस्कृतिक बोध के कारण नई दृष्टि का उदय हुआ है । पुरुष के वर्चस्व का खंडन और हाशिए पर धकेल दी गई स्त्री समाज में खोयी अपनी प्रतिष्ठा, सम्मान और अस्मिता का स्थान तलाश रही है ।

नासिरा शर्मा के 'कुइयाँजान' उपन्यास में इक्कीसवीं सदी की आर्थिक समस्या को दर्शाया है । प्राकृतिक आपदाओं जैसे पानी की कमी, बाढ़, तूफान, महामारी फैलना आदि समस्याओं से समाज में आर्थिक विषमता फैलती है । इससे धन–संपन्न वर्ग पैसे के बल पर अपना समय निकाल लेते हैं परंतु निम्न वर्ग का जीना मुश्किल होता है । प्राकृतिक आपदाओं के साथ कुछ धनी लोग निम्न वर्ग का शोषण करते हैं । परिणामस्वरूप निम्न वर्ग अकाल ग्रस्त बन जाता है । एक पानी को ही ले तो यह एक प्रकृति का उपहार है और इस पर सब का अधिकार है । इस स्थिति में निम्न वर्ग को पानी को खरीद कर पीना पड़ता है । इस सच्चाई को उजागर करता एक व्यक्ति पानी की समस्या पर बहस करते हुए कहता है कि– "आपकी परेशानी अपनी जगह, हमारी धरती पर किए गए अत्याचार अपनी जगह। आप लोग प्रबुद्ध है । परंतु मैं आपके सामने कह सकता हूँ कि गांव कस्बों में ठाकुर का कुआँ आज भी जीवित है । उन गांवों में जहाँ मीठे पानी से कुएँ लबालब भरे हैं, वहाँ दलितों को आज भी तीन रुपये घड़ा उसी गांव का आदमी बेचता है । आप इस समस्या का समाधान कैसे ढूढ़ंगे?"[3] आज भी निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय है । उन्हें उच्च और मध्य वर्ग के घरों और कार्यालयों में मजदूरी करनी पड़ती है । उच्च वर्ग के लोग उनसे मनचाहा काम करवाते हैं और निम्न वर्ग का शोषण करते हैं । काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में इक्कीसवीं सदी की बेरोजगारी की भयावह समस्या का मार्मिक चित्रण है । खेती श्रम आधारित है । किसान और उसका परिवार मिलकर खेती करते हैं । जो बड़े और साधन संपन्न किसान होते हैं, वे अपना काम खेतिहर मजदूरों से कराते हैं । ग्रामीण मजदूरों को तो पूरे साल का न काम मिलता है न ही उचित मजदूरी मिलती है । वे काम की तलाश में शहरों–महानगरों की ओर पलायन कर रहे हैं ।

उपभोक्तावाद को बढ़ाने के लिए पूंजीपति दूसरे बहुत बड़े वंचित वर्ग को उसकी पूरी सभ्यता को ही नष्ट करने लगे हैं । भारत के हर प्रदेश में आदिवासी जनजातियाँ निवास करती है । आज भी वे अपने प्राकृतिक जीवन से जुड़े पहलुओं के साथ जीवन जीते हैं किंतु आज उपभोक्ता व्यवस्था उन्हें अपने ही जल, जमीन और जंगल यानी अपने घर से बेदखल करने में लगी है । वे आज मजदूर बन गए हैं । पूंजीपति उन्हें लालच देकर उन्हें खदानों में खुदाई में लगाते हैं परंतु आगे चलकर यह उनके लिए जानलेवा साबित होता है । इस दयनीय स्थिति का मार्मिक अंकन रणेंद्र ने अपने उपन्यास 'ग्लोबल गांव के देवता' में किया है– "एक तरफ इन खानों में मजूरी दी तो दूसरी तरफ बर्बादी के सरंजाम भी खड़े किए। पिछले पच्चीस–तीस सालों में खान मालिकों ने जो बड़े–बड़े गड्ढे छोडे हैं, बरसात में इन गड्ढ़ों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं । सेरेबल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी मुंडीकटवा से साल–दो–साल पर भेंट होती है किंतु इस जानमारू से तो हर रोज भेंट होगी।"[4] उपन्यासकार ने स्पष्ट किया है कि पूंजीपतियों और सत्ताधारियों ने वहाँ के स्थानीय लोगों को मृत्यु के मुंह में धकेला है । उपन्यासकार ने यहाँ स्पष्ट किया है कि विकास के नाम

पर स्थानीय लोगों पर होने वाले शोषण के विरोध में एकता दिखानी होगी, जिससे इस अन्याय के भंवर से बचकर अपने अस्तित्व बचाया जा सकता है । वरना इस विकास की आँधी में ये लोग गायब हो जाएंगे। इस उपन्यास में स्पष्ट रूप से इस शोषण के विरोध में प्रतिरोध का स्वर दृष्टिगत होता है । रणेंद्र ने प्रतिरोध के इस स्वर को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है– "अवैध खनन के लिए पांच–दस असुरों को रोज फुसलाया जाता है । हर उपाय से उनकी जमीन हथियायी जाती है । बॉक्साइड निकाल–निकालकर मौत की खाइयाँ छोडी जा रही है । इन सवालों को जोड़िये, तभी असुरों के साथ उरांव, खेरवार, सदान सब आपकी लड़ाई में जुटेंगे।"[5] निजीकरण, उदारीकरण और उद्योगीकरण आदि के विनाशकारी विकास ने जनजातियों को हाशिए पर धकेल दिया है, जिससे उनकी अस्मिता पर खतरा मंडराने लगा है । विकास के नाम पर इनके विनाश की साजिश रची जाने लगी है । सल्वा जुडुम और ऑपरेशन ग्रीन हंट जैसे नामों की आड़ में विकास के नाम पर सरकार की सोच है, वह नकारात्मक है । यह कैसी उपभोक्तावादी संस्कृति है जो एक छोटे से वर्ग के लिए दूसरे बहुत बड़े तबके की बलि चढ़ायी जा रही है ।

आज देश के लिए कैसी विडंबना है कि भारत जैसे देश में जनता भूखे पेट सोती है, वहीं दूसरी ओर पश्चिमी देशों में एक्सपायरी डेट के नाम पर भोजन फेंक दिया जाता है । प्रदीप सौरभ ने अपने उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' में इस पर चोट की है । उपन्यास का पात्र जोगिंदर सिंह कहता है कि– "इंग्लैड में एक्सपाइरी का चक्कर जरदस्त है । हर स्टोर से हर दिन एक्सपायर हुई, खाने–पीने की चीज फेंकी जाती है । यही हमारा भोजन बनती है । एक्सपइरी खाना अंग्रेजों के लिए खराब होता होगा, लेकिन हमारा डायजेस्टिव सिस्टम इसके लिए पूरी तरह ठीक है । इंडिया में भी तो हम एक्सपाइरी चीजें ही खा रहे हैं ।"[6] वैश्वीकरण के दौर में प्रवेश करने के बाद विश्व में एक ओर तेजी से फैला है वह प्लास्टिक मनी। आज अपने साथ रुपये लेकर चलने के दिन चले गए । अब तो क्रेडिट कार्ड का जमाना है । इसके लिए एक ओर व्यक्ति के जीवन को सुविधायुक्त बनाया है तो दूसरी ओर बिना पैसे के मौजमस्ती की लत भी पैदा कर दी गई है । यदि आपके पास मौज–मस्ती करने के लिए पैसे नहीं है तो चिंता करने की आवश्यकता नहीं है । आप क्रेडिट कार्ड का प्रयोग कर अपनी इच्छाओं को पूरा कर सकते हैं । क्रेडिट कार्ट ने आज समय की परिभाषा बदल डाली है । महानगरीय बाजारवादी सोच ने संयम को दमन के रूप में प्रचारित किया है । आज हर कोई शून्य बाजार दर के मोहक मायाजाल में लोगों को लुभाना चाहा है । वह आज के व्यक्ति को उपभोग के लिए उकसाता है । प्रदीप सौरभ ने महानगरीय जीवन के यथार्थ रूप स्पष्ट करते हुए लिखा है– "एक अमेरिकन के पास औसतन पंद्रह क्रेडिट काड्र्स होते हैं । उनके या किसी बुजुर्ग की मौत पर विरासत में परिवार वालों को क्रेडिट्स काड्र्स और दूसरे लोग के बिल मिलते हैं । भारत में ऐसी स्थिति में परिवार वालों को मकान सोना–चाँदी और भी बहुत कुछ मिलता है । भारत में ऐसा दर्शन भी है कि उधार लेकर भी पीओ ।"[7] लेखक अपने उपन्यास में अमेरिका और भारतीय विचारधारा की तुलना करते है । भारत को प्राचीन काल से संयम पूर्ण जीवन जीने की आदत नहीं है । भोगवादी संस्कृति का असर अभी दिखाई देने लगा है । बाजारवाद ने शहरों को ही अपने मकड़जाल में फंसा है । यहाँ का ग्रामीण समाज आज भी जरूरत की वस्तुओं को ही प्राथमिकता दे रहा है । वहाँ तक वैश्विक आर्थिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा है । उसके द्वारा खेतों में लगाई जाने वाली फसल का मूल्य अब अंतर्राष्ट्रीय बाजार तय करता है । इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासकारों ने बहुत सूक्ष्म, गहराई और विस्तार में जाकर महानगरीय जीवन का अंकन अभिव्यक्त किया है । विगत बीस–पच्चीस सालों में वैश्विक आर्थिक चेतना विविध रूपों में फैली हुई है । देखा जाए तो भारत के लिए यह एक सांस्कृतिक संक्रमण का काल है । उपन्यासकारों ने इस महानगरीय प्रभाव का आकलन जिस रूप में किया है, वह अपने आप में बेहद महत्वपूर्ण है ।

आज देश की अर्थ व्यवस्था पर पूँजीवादियों का शिकंजा कसा हुआ है, जिसमें आम जनता अभावग्रस्त स्थिति में महंगाई और बेरोजगारी का शिकार है । भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थ एक जरूरतमंद साधन बन गया है । लोगों का भौतिक

सुख–सुविधाओं के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। अर्थ प्राप्ति ही व्यक्ति का चरम लक्ष्य बना है। समाज में प्रतिष्ठा, मान–सम्मान की कसौटी मानव मूल्य न रहकर भौतिक समृद्धि बन गयी है। इक्कीसवीं सदी के उपन्यासकारों ने विभिन्न समस्याओं को विस्तार से अभिव्यक्त किया है।

**संदर्भ :**

1. अलका सरावगी – कलिकथा वाया बाईपास, पृ.सं. 61
2. अलका सरावगी – कलिकथा वाया बाईपास, पृ.सं. 159
3. नासिरा शर्मा – कुइयांजान, पृ.सं. 105
4. रणेंद्र – ग्लोबल गांव के देवता, पृ.सं. 13
5. रणेंद्र – ग्लोबल गांव के देवता, पृ.सं. 48
6. प्रदीप सौरभ – मुन्नी मोबाइल, 102
7. प्रदीप सौरभ – मुन्नी मोबाईल, पृ.सं. 104